



# विक्रम

# संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/निःशुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

e-mail : mvspujain@gmail.com

vikramadityashodhpeeth@gmail.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-3

संवत् प्रवर्तक  
विक्रमादित्य

डॉ. भगवतीलाल  
राजपुरोहित

पृष्ठ क्र. 4-5

सर्वाधिक मान्यता  
विक्रम संवत् की

अजय बोकिल

पृष्ठ क्र. 6-7

वैद्याचार्य एवं औषधीय

साहित्यकर्ता :  
'धन्वन्तरि'

डॉ. प्रीति पांडेय

पृष्ठ क्र. 8

पुस्तक चर्चा  
आर्यभट

डॉ. मोना परसाई

## संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

भारत का लोकप्रिय विक्रम संवत् 2070 तक आज भी सुविख्यात है। यह नेपाल का राष्ट्रीय संवत् है। प्राचीन काल में इसे कृत या मालव संवत् भी कहते थे। परन्तु अब तो प्रायः तेरह सौ वर्षों से यह विक्रमादित्य या विक्रम संवत् नाम से ही प्रचलित है। परम्परानुसार इसका प्रवर्तन उज्जैन के यशस्वी राजा विक्रमादित्य ने शकों को पराजित करके किया था। राजा विक्रमादित्य भारत के जन-जन में लोकप्रिय है। भारत, श्रीलंका, नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, अरब, तुर्की आदि के प्राचीन साहित्य के साथ ही भारत में आये विदेशी अलबेरुनी आदि के ग्रन्थों में विक्रमादित्य की गरिमा का बार-बार उल्लेख किया गया है। विक्रमादित्य के तत्काल बाद प्रथम शताब्दी की बृहत्कथा तथा गाहासत्तसई से आरम्भ कर भारतीय साहित्य में अनवरत विक्रमादित्य का सादर स्मरण प्राप्त होता है। भारत के गाँव-गाँव का यह हृदय सम्राट है।

भारत के इस महानायक को पौराणिक और प्राचीन साहित्य में जितनी ख्याति मिली उतनी ही भारतीय आधुनिक इतिहास पुस्तकों में उपेक्षा। जिस गुप्त राजवंश की प्राचीन अभिलेख में लक्ष कोटिमलेखयेत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः कहकर निंदा की गयी उस वंश के एक विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त को असली विक्रमादित्य स्थापित कर उसे उस पद पर बनाये रखने की आधुनिक इतिहासकारों ने मुहिम छेड़ रखी है। जबकि पारम्परिक साहित्य में उस चन्द्रगुप्त का नाम विरल ही मिलता है। एक अनुपलब्ध नाटक देवीचन्द्रगुप्त के उस नायक को भारत का नायक बनाये रखने की होड़ चल रही है। उसे नायक बनाये रखने के लिए विशद प्रभामंडल के उस आदि विक्रमादित्य की सब विशेषताएँ इस चन्द्रगुप्त को समर्पित की जाने लगीं जिसके नाम 'विक्रमादित्य' को अपनी उपाधि बनाने में जो स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता था कि वही शकारि है, कि वही साहसांक है।

जबकि ईसवी पूर्व के विक्रमादित्य के समय शक एक प्रबल उभरती हुई शक्ति थी जो भारत में अपनी जगह तलाश रही थी और चन्द्रगुप्त के समय शक एक अस्त होता हुआ तारा था जो पिछली पाँच शताब्दियों से पश्चिमी भारत को जहाँ-तहाँ भोगता रहा था। चन्द्रगुप्त ने उसे अंतिम रूप से अपना बोरिया बिस्तर समेटने के लिए मजबूर कर दिया था क्योंकि शकों को बुरी तरह से पहले ही कमजोर कर दिया गया था। उसी चन्द्रगुप्त के शक्तिसम्पन्न और महिमामंडित महान् विजेता पिता समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित शकों की शक्ति को अंतिम विदाई देने के कारण ही वह विक्रमादित्य के समान शकारि हो गया था और वह उस नाम को ही अपनी उपाधि बनाकर विक्रमादित्य होना चाहता था।

इस चन्द्रगुप्त के अनेक शिलालेख, सिक्के, सील आदि प्राप्त हुए हैं। उनमें कहीं भी उसने स्वयं को शकारि या साहसांक नहीं कहा। केवल देवीचन्द्रगुप्त नाटक के उपलब्ध अंशों में एक शक राजा को रानी ध्रुवदेवी बनकर उसने मार डाला था। वहाँ भी रण में शक को आमने सामने नहीं मारा, छल से शक राजा को मारने के कारण आज के इतिहासकार उसे मूल शकारि का गौरव दे रहे हैं। परवर्ती देशी-विदेशी साहित्य में चन्द्रगुप्त सम्बन्धित शकारित्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जो भी प्राप्त होता है वह सब इस नाटक के आधार पर। नाटक नाटक होता है, वह इतिहास नहीं, इतिहासाभास होता है।

परन्तु हमारे इतिहासकारों ने उस इतिहासाभास को ही विभिन्न अप्रत्यक्ष अनुमानित तर्कों से

वास्तविक इतिहास बना दिया और जो वास्तविक परम्परा और साहित्य में जीवित था, उसको जड़ से उखाड़ फेंकने का निरंतर प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार एक मिथ्या इतिहास पीढ़ियों को बताया जा रहा है। परिणामतः अब तो स्थिति यह हो गयी है कि विक्रम नाम आते ही शिक्षित समुदाय केवल चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही समझता है।

यह कहा गया कि संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य किस्से कहानियों की गप्प है क्योंकि उसका न कोई शिलालेख है, न सिक्का, न सील। जबकि चन्द्रगुप्त का शकारित्व भी एक कहानी है जो काल्पनिक भी हो सकती है। आधुनिक इतिहासकारों को चन्द्रगुप्त को असली विक्रमादित्य बनाये रखने के दुराग्रह के अनेक उदाहरण क्रमशः प्रकट होते जा रहे हैं। कुछ उदाहरण यहाँ विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

(1) हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर में भविष्योत्तरपुराण का वह संस्कृत उद्धरण है जिसमें कहा गया है कि विक्रमादित्य के समान चन्द्रगुप्त भी वीर और संस्कृति प्रेमी था। वह मूल अंश इस प्रकार हैं -

तस्य पुत्रोऽपरश्चन्द्रगुप्ताख्यो वीरकेसरी।

विक्रमादित्यवन्तित्यं पण्डितैः परिसेवितः॥

इसका यह अर्थ होता है- उस (समुद्रगुप्त) का अन्य पुत्र वीरों में सिंह था जिसका नाम चन्द्रगुप्त था। उसकी विक्रमादित्य के समान पण्डितगण सदा सेवा करते रहते थे। हमारे इतिहासकार इस उद्धरण का उपयोग तो करते हैं परन्तु विक्रमादित्य शब्द को नाम न मानकर उसका अर्थ आदित्य के समान विक्रम सम्पन्न चन्द्रगुप्त अर्थ करके विक्रमादित्य नाम को ही अर्थ में से गायब कर देते हैं।

(2) विक्रमादित्य के पुरातात्विक प्रमाण नहीं पाये जाते। यह तर्क देकर उसे इतिहास से खारिज कर दिया जाता है। पुरातात्विक

प्रमाण तो मौर्यकाल से पहले के प्रद्योत, उदयन सहित कितने ही राजाओं के नहीं मिलते। चन्द्रगुप्त मौर्य या बिन्दुसार के भी नहीं मिलते परन्तु उन्हें इतिहास सम्मत माना जाता है। तब विक्रमादित्य की उपेक्षा पक्षपात का स्पष्ट उदाहरण दिखाई देता है।

ईसवी पूर्व के विक्रमादित्य के समय शक एक प्रबल उभरती हुई शक्ति थी जो भारत में अपनी जगह तलाश रही थी और चन्द्रगुप्त के समय शक एक अस्त होता हुआ तारा था जो पिछली पाँच शताब्दियों से पश्चिमी भारत को जहाँ-तहाँ भोगता रहा था। चन्द्रगुप्त ने उसे अंतिम रूप से अपना बोरिया बिस्तर समेटने के लिए मजबूर कर दिया था क्योंकि शकों को बुरी तरह से पहले ही कमजोर कर दिया गया था। उसी चन्द्रगुप्त के शक्तिसम्पन्न और महिमामंडित महान् विजेता पिता समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित शकों की शक्ति को अंतिम विदाई देने के कारण ही वह विक्रमादित्य के समान शकारि हो गया था और वह उस नाम को ही अपनी उपाधि बनाकर विक्रमादित्य होना चाहता था।

जब विक्रमादित्य के पुरातात्विक प्रमाण मिलने लगे तो हमारे स्वनामधन्य इतिहासकार उनकी ओर भी आँख मूंदने लगे या उन्हें फर्जी कहकर निरस्त करने में जुट गये। इसके भी उदाहरण पिछली आधी सदी में सतत पाये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं।

(3) सुप्रसिद्ध पुराविद्, मुद्रा तथा अभिलेखों के विशेषज्ञ डॉ. एच.वी. त्रिवेदी ने पवाया के नाग सिक्कों पर 1957 में 'नाग काइंस' पुस्तक प्रकाशित की। उसमें फोटो सहित विवरण दिया। परन्तु एक प्लेट में पाँच सिक्के ऐसे छापे जिनके विषय में लिखा कि नाग सिक्कों की ये सिक्के भूमिका बनाने से महत्वपूर्ण हैं। वे इन्दौर के एक व्यक्तिगत संग्रह में विदिशा से प्राप्त हुए थे।

डॉ. त्रिवेदी ने उन सिक्कों पर अंकित स्पष्ट अक्षरों का वाचन अपनी पुस्तक में नहीं दिया क्योंकि वाचन देने से उनके समय के दिग्गज इतिहासकार उन्हें अपनी बिरादरी से हटा देते और उनकी बुद्धि पर तरस खाने लगते। क्योंकि उन सिक्कों पर स्पष्ट ही कृत लिखा था। जबकि कृत के उल्लेख सहित तो कई शिलालेख मिल चुके हैं। ये सिक्के पहली बार मिले। उनमें से एक सिक्के पर कृत और विक्रम दोनों लिखा है। जिससे इतिहास की एक महत्वपूर्ण गुत्थी सुलझ जाती है कि कृत और विक्रम एक ही हैं। अतः कृत संवत् का प्रवर्तन विक्रमादित्य ने ही किया, इसमें सन्देह नहीं है।

इन सिक्कों का वाचन यदि उस पुस्तक में ही दे दिया जाता तो 1960 से पहले ही यह समस्या सदा के लिए हल हो जाती। क्योंकि एच.वी. त्रिवेदी की बात को इतिहासकार सरलता से टाल नहीं पाते। परन्तु त्रिवेदीजी ने उन सिक्कों के महत्व की उपेक्षा नहीं की और उनका प्रकाशन तो कर ही दिया जिनका अब भलीभाँति वाचन सुविज्ञ मुद्राविद् डॉ. जगन्नाथ दुबे ने करके उस छिपाये गये तथ्य को उजागर कर दिया।

(4) प्रतिबद्ध इतिहासकारों की मानसिकता से हटकर पहली बार

डॉ. वि.श्री.वाकणकर ने उज्जैन के प्राचीन गढ़कालिका क्षेत्र से प्राप्त एक मुद्रांक प्रकाशित कर दिया जिस पर अंकित है 'कतस उजेनियस'। वह सीलिंग उन्होंने तत्कालीन ख्यातनाम कई ख्यात पुराविदों को दिखाई। पर अवसर आने पर उन्होंने कह दिया कि

उन्होंने नहीं देखी और डॉ. मिराशी, डॉ. वि. श्री. वाकणकर के पुराज्ञान पर सवाल खड़े करते हुए अपने लेखों और पत्रों में उन्हें भला बुरा कहते रहे। परन्तु वाकणकर अपने सच्चे पथ पर अडिग रहे।

(5) ताजा उदाहरण है कि नान्दूर उत्खनन से प्राप्त 'श्री विक्रमस' अंकित मुद्रांक को भी चन्द्रगुप्त मान लिया गया। यह न जानते हुए कि इसमें ईसवी पूर्व की लिपि और भाषा भी है। प्राकृत विभक्ति ईसवी पूर्व में लगती थी और गुप्तकालीन होती तो संस्कृत में विक्रमस्य शब्द होता। इस सील पर दण्डधर शिव के सामने हाथ जोड़े एक व्यक्ति (विक्रम) और पास ही एक पक्षी भी अंकित है। विक्रमादित्य शिवभक्त था। अतः यह करबद्ध शिवभक्त विक्रमादित्य ही है।

(6) चतुर्भाणी की भूमिका (पृष्ठ 10) में डॉ. मोतीचन्द्र ने लिखा है- कांकायन अवश्य आयुर्वेद के कोई बड़े आचार्य रहे होंगे। नावनीतक में जिसका समय डॉ. हार्वले ने ईसा की दूसरी सदी माना है (बावर मेन्युस्क्रिप्ट्स, अध्याय में) एकत्र जगह (5/935) कांकायन का उल्लेख है। पर अगर कांकायन हरिश्चन्द्र का ही विशेषण माना जाए तो नवनीतक के कांकायन और हरिश्चन्द्र एक ही बैठते हैं। ऐसी अवस्था में नावनी तक का समय हमें पाँचवीं सदी का मध्य भाग मानना पड़ेगा। यह मजबूरी इसलिए है कि डॉ. मोतीचन्द्र आदि इतिहासकारों का दल चतुर्भाणी और साहसांक विक्रमादित्य को गुप्तकालीन मानते हैं।

अब मध्यप्रदेश शासन द्वारा उज्जैन में जब 2009 से महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ स्थापित हुआ है उसके प्रयासों से पिछले डेढ़ वर्षों में ईसवी पूर्व के संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य के कई शिलालेख, सिक्के, मुद्राएँ, मुद्रांक, सिक्कों के साँचे आदि प्रकट हुए और होते जा रहे हैं। इन में से राजा कृत उजेन, श्रीविक्रम, कृत, राजा विक्रम, विक्रम आदि अंकित प्रायः 20 सील या सीलिंग प्राप्त हैं। ये मिट्टी, हाथी दाँत तथा धातु की हैं। एक पर श्रीविषम अंकित है। विषमशील विक्रमादित्य का ही एक अन्य नाम था। कथासरित्सागर में श्लोक यही कहता है

नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तनाकरोत्पिता।

तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः ॥ 18/1/51

उस पुस्तक में विक्रमादित्य सम्बन्धी कथाखण्ड का नाम ही है विषमशील लम्बक। अतः यह विषमांकित सील विक्रमादित्य की है। विषम का अर्थ है असामान्य। विक्रम असामान्य शील सम्पन्न था। एक सील पर विक्रम या कृत को देसभानेस अर्थात् देश के आभा मण्डल का स्वामी कहा गया है जो आज तक अपनी कीर्ति से यथार्थ सिद्ध हो रहा है।

विक्रमादित्य और कृत के अब तक 12 ताँबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। एक स्वर्ण सिक्का भी ज्ञात हुआ है जिस पर 'राजा विक्रमादित्य उजेनिय' और राजा की मुखाकृति अंकित है। विक्रमादित्य के कई सिक्कों पर मानवाकार शिव अंकित है। नन्दूर से प्राप्त मिट्टी की सीलिंग पर शिव के सामने राजा विक्रमादित्य हाथ जोड़े खड़ा है और उस पर श्रीविक्रमस नाम अंकित है। यह उल्लेखनीय है कि एच.वी.त्रिवेदी द्वारा प्रकाशित सिक्के भी नन्दूर क्षेत्र के विदिशा से प्राप्त हुए थे।

ऐसी ही श्री विक्रमस अंकित एक सील अश्विनी शोध संस्थान में भी विद्यमान है। दो सीलिंग वाकणकर द्वारा और शेष सील तथा सीलिंग श्री अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर के अध्यक्ष, डॉ. आर.सी.ठाकुर के सौजन्य से शोधपीठ को अन्वेषण के लिए सुलभ करवाये गये। यही नहीं उनके संग्रह में सिक्कों के मिट्टी के प्रायः साढ़े पाँच सौ साँचे हैं। जिनमें से एक पर विक्रम अंकित है। एक 'विक्रम' नामांकित सिक्के पर बिन्दुओं से स्पष्ट मुखाकृति बनी है, जो विक्रमादित्य की होनी चाहिए। इस प्रकार विभिन्न सील सिक्कों पर अब तक विक्रम की तीन आकृतियाँ ज्ञात हो चुकी हैं। इन आकृतियों का मिलानपूर्वक अध्ययन भी किया जा रहा है। न केवल विक्रमादित्य अपितु कथासरित्सागर सहित अनेक प्राचीन कथाओं में मूलदेव को विक्रमादित्य का सभासद बताया गया है। कसरावद उत्खनन से ईसवी पूर्व की ब्राह्मी में मूलदेव अंकित पात्र खण्ड और महिदपुर संग्रह में सील प्राप्त हो चुकी है। तथा अध्येता से भी सिक्के प्राप्त हुए हैं। क्योंकि वह मूलतः पाटलिपुत्र का था जो उज्जैन में भी रहता था। यही नहीं शूद्रक के पद्मप्राभृतक भाण में और बाणभट्ट की कादम्बरी में उल्लिखित उसकी उज्जैन निवासिनी प्रेमिका गणिका विपुला के ईसवी पूर्व की लिपि में साँची स्तूप पर अंकित दो दानलेख भी प्राप्त हुए हैं। अतः विक्रमादित्य और उसके समकालीन विभिन्न सदस्यों के भी पुरासाक्ष्य सुलभ हो चुके हैं। विक्रमादित्य नामांकित दो शिलालेख मंदसौर के निकट अँवलेश्वर से प्राप्त हुए हैं जिन पर जलाशय निर्माण का उल्लेख है। तत्कालीन विभिन्न प्रतिमाओं की पहचान भी होती जा रही है जो अब ग्वालियर, विदिशा सहित विभिन्न संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। तद्युगीन मिट्टी के पात्रादि का अध्ययन भी गतिशील है।

पुरातात्विक अध्ययन के फलस्वरूप विक्रमादित्य के साथ ही तद्युगीन अन्य भी राजाओं, देवी-देवताओं और प्रतीकों का दुर्लभ ज्ञान प्राप्त होता जा रहा है। साहित्य, लोकसाहित्य और पुरासाक्ष्य के बहुविध-प्रमाण निरन्तर एकत्र किये जा रहे हैं और उनका सम्यक् अध्ययन भी गतिशील है।

## सर्वाधिक मान्यता विक्रम संवत् की

अजय बोकिल

उज्जयिनी के पराक्रमी राजा विक्रमादित्य ने करीब दो हजार वर्ष उत्तर पश्चिमी भारत को आक्रमणकारी शकों से तो मुक्त कराया ही, साथ ही इस विजय को स्थायी रूप देने के लिए एक नया संवत् 'विक्रम संवत्' भी चलाया। हालांकि यह संवत् उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य द्वारा ही प्रणीत है। ज्यादातर इतिहासकार इसे राजा विक्रमादित्य की ही भारतीय पंचांग को देन मानते हैं। अभी देश में ग्रेगोरियन कैलेंडर (जोकि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्य है) के अलावा आधिकारिक रूप से विक्रम और शक संवत् प्रचलन में हैं। कई राष्ट्रवादियों का कहना है कि भारत सरकार को शक संवत् के बजाए केवल विक्रम संवत् को ही आधिकारिक रूप से मान्य करना चाहिए। वैसे हिंदू धर्म में कई पंचांग (कैलेंडर) प्रचलित हैं, लेकिन जो सर्वाधिक मान्य है, वह विक्रम और शक संवत् ही हैं।

वैसे भारत में विक्रमादित्य नाम से और भी सम्राट हुए हैं, क्योंकि विक्रमादित्य एक उपाधि थी। इतिहासकार राजबली पांडेय, कैलाशचंद्र जैन आदि ने विक्रमादित्य को उज्जैन स्थित मालवा का सम्राट माना है, जिसने सिन्ध से घुसकर मालवा पर हमला करने वाले शकों को रोका। इस पराक्रमी विक्रमादित्य (चंद्रगुप्त विक्रमादित्य नहीं) का उल्लेख कई पारम्परिक कथा साहित्य में मिलता है, जिसमें 'बेताल पच्चीसी' और सिंहासन बत्तीसी' अहम है। 12वीं सदी में कल्हण द्वारा लिखी गई 'राजतरंगिणी' में उल्लेख है कि उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया था। इसी विक्रमादित्य ने अपने मित्र मातृगुप्त को उस समय कश्मीर का शासक नियुक्त किया था। विक्रम संवत् का प्रारंभ ईसा से 57 वर्ष पूर्व यानी 57 ईपू से माना जाता है।

भारत के अलावा यह पंचांग नेपाल में भी मान्य है। इसमें चन्द्र मास एवं सौर नक्षत्र वर्ष का उपयोग किया जाता है। विक्रम संवत् का आरंभ गुजरात में कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से और उत्तर भारत में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से माना जाता है। माना जाता है कि वर्ष में 12 माह और 7 दिन का एक सप्ताह मान्य करने का प्रारंभ विक्रम संवत् से ही हुआ। महीने का हिसाब सूर्य

व चंद्रमा की गति पर आधारिक है। ये बारह राशियां ही 12 सौर मास हैं। जिस दिन सूर्य जिस राशि में प्रवेश करता है उसी दिन संक्रान्ति होती है। पूर्णिमा के दिन, चन्द्रमा जिस नक्षत्र में होता है, उसी आधार पर महीनों का नामकरण हुआ है। चंद्र वर्ष, सौर वर्ष से 11 दिन 3 घटी 48 पल छोटा है, इसीलिए प्रत्येक 3 वर्ष में इसमें 1 महीना जोड़ दिया जाता है। जिसे 'अधि मास' कहते हैं। जिस दिन नव संवत् का आरम्भ होता है, उस दिन के वार के अनुसार वर्ष के राजा का निर्धारण होता है। उदाहरण के लिए 18 मार्च को विक्रम संवत् 2074 का प्रथम दिन था।

विक्रम संवत् प्रारंभ से इसी नाम से नहीं जाना गया। आरम्भिक शिलालेखों में ये वर्ष 'कृत' के नाम से उल्लेखित है। लेकिन 8वीं और 9वीं शती से विक्रम संवत् का नाम विशिष्ट रूप से मिलता है। संस्कृत के ज्योतिष ग्रन्थों में शक संवत् से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए सामान्यतः केवल 'संवत्' नाम का प्रयोग किया गया है।

हालांकि 'विक्रम संवत्' के उद्भव एवं प्रयोग के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं। मोटेतौर पर मान्यता यही है कि सम्राट विक्रमादित्य ने ईसा पूर्व 57 में इसका प्रचलन शुरू कराया था। कुछ लोग ईसवी सन् 78 और कुछ लोग ईसवी सन् 544 से भी इसका प्रारम्भ मानते हैं। फारसी ग्रंथ 'कलितौ दिमनः' में पंचतंत्र का एक पद्य 'शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम्' का भाव उद्धृत है। कुछ विद्वान 'कृत संवत्' को 'विक्रम संवत्' का पूर्ववर्ती मानते हैं। अर्थात् विक्रम संवत् को पहले कृत संवत् के नाम से जाना जाता था। कुछ शिलालेखों में मालवगण का संवत् उल्लिखित है, जैसे-नरवर्मा का मंदसौर शिलालेख। इसमें 'कृत' एवं 'मालव' संवत् एक ही कहे गए हैं। हो सकता है कि कृत संवत् ही मालवा में मालव संवत् के नाम से जाना गया हो।

राजस्थान के बरनाला में मिले एक प्राचीन शिलालेख में 'विक्रम संवत्' का उल्लेख है। भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के अनुसार उज्जैन के परमार वंश के राजा गंधर्वसेन के दूसरे पुत्र का नाम विक्रमादित्य था, जिनका जन्म 102 ईपू में हुआ था तथा देहांत ईसवी सन् 15 में हुआ। विक्रम संवत् का एक

महत्वपूर्ण उल्लेख गुजरात के काठियावाड़ के ओखामंडल के पूर्व राजा जयकदेव के शिलालेख में मिलता है। इस शिलालेख के स्थापना वर्ष में विक्रम संवत् 794 का उल्लेख है, जो ईस्वी सन के हिसाब से वर्ष 737 होता है। भारत में मुस्लिम शासकों के सत्ता पर काबिज होने तक देश में मुख्य रूप से विक्रम और शक संवत् ही प्रचलन में थे। बौद्ध साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है। नेपाल के पूर्व राणा राजवंश ने 1901 में विक्रम संवत् को ही नेपाल के अधिकृत हिंदू कैलेंडर के रूप में मान्य किया था।

शुभोमय दास के अनुसार भारत में आजादी के बाद तक 30 अलग-अलग हिंदू पंचांग प्रचलन में थे। ये सभी ज्योतिषीय गणनाओं और स्थानीय काल निर्णायकों के हिसाब से बनाए जाते थे। ये कैलेंडर हिंदुओं के अलावा बौद्धों, जैनों और सिखों में भी मान्य थे। जबकि सरकारी कामकाज ग्रेगोरियन कैलेंडर के हिसाब से होता था। 1957 में भारत सरकार ने एक 'पंचांग सुधार समिति' गठित की। जिसने चांद्रसूर्य पंचांग, जिसमें हर चौथे वर्ष अधिक मास जोड़ा जाता है, को आधिकारिक रूप से मान्य किया गया। समिति की सिफारिशें मानते हुए शक संवत् चैत्र प्रतिपदा 1879 अर्थात् 22 मार्च 1879 से इसका प्रारंभ माना गया। इसे ही भारत का राष्ट्रीय पंचांग भी स्वीकृत किया गया। वर्तमान शक संवत् 1942 चल रहा है।

विक्रम संवत् की जगह शक संवत् को आधिकारिक पंचांग मानने की वजह शायद इसके प्रारंभ को लेकर प्रामाणिक और पुष्ट जानकारी का होना है, जबकि विक्रम संवत् को लेकर विद्वान पूरी तरह एकमत नहीं है। राष्ट्रवादी अवधारणा के तहत विक्रम संवत् को भी मान्य किया जा सकता है। इस दिशा में ठोस प्रयास हों तो 'विक्रम संवत्' को भी भविष्य में आधिकारिक पंचांग में के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

## विक्रमादित्य महान क्यों

1. विदेशी आक्रांताओं को निर्णायक रूप से पराजित कर भारत भूमि से बाहर खदेड़ने वाला प्रथम महानायक।
2. शक विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् का प्रवर्तन जो आज 2078 वर्ष बाद भी बहुप्रचलित है।
3. सर्वाधिक लोकमान्य सार्वभौम सम्राट।
4. कुशल प्रशासन के लोकप्रिय मानदंडों की स्थापना।
5. समाज से दुर्गुण दूर करने के लिए कृतसंकल्पित, समाज के समस्त ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ) पुरुषार्थों का संरक्षण-समर्थन।
6. भारतीय संस्कृति का संरक्षण, उत्कर्ष और सूदूर देशों तक विस्तार।
7. श्रेष्ठ विचारक, साहित्यकार, वैज्ञानिक, आयुर्विद, ज्योतिर्विज्ञानी आदि विशेषज्ञों की नवरत्न सभा।
10. ऐसा प्रथम ऐतिहासिक सम्राट जिसके नाम को परवर्ती राजा अपनी उपाधि बनाने को आतुर रहते थे।
11. शील, शक्ति और साहस से समाज में आदर्श स्थापित करने वाला सम्राट।
12. रामराज्य के आदर्श पथ का पुनःप्रवर्तक।

### विक्रमादित्य कालीन पुस्तकें उपलब्ध

विक्रमादित्य, उनके युग तथा भारत विद्या पर बहुविध पुस्तकों का प्रकाशन महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ कर रहा है। पुस्तकें क्रय करने के लिए शोधपीठ के उज्जैन कार्यालय से सम्पर्क किया जा सकता है।

सम्पर्क : 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 फोन : 0734-2521499 0755-2660407

e-mail : mvspujain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com

-संपादक

## वैद्याचार्य एवं औषधीय साहित्यकर्ता : 'धन्वन्तरि'

डॉ. प्रीति पांडेय

विक्रमादित्य के नवरत्न अपने-अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ थे एवं लगभग सभी नवरत्न भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित थे जिससे ये सभी एक ही राज दरबार में रहकर अपने क्षेत्र के ज्ञान का लाभ परस्पर आदान-प्रदान कर सके एवं उसका विवेचना एवं आत्ममंथन करके जनहित एवं राज्यहित में राजाज्ञा द्वारा इसे सभी को प्रदत्त कर सकें। इसी में धन्वन्तरि वैद्यक ज्ञान का भण्डार थे एवं विक्रमादित्य के संरक्षण में उन्होंने शरीर के रोग निदान पर कई पुस्तकें लिखीं।

यूं तो भारतीय इतिहास में कई धन्वन्तरि हुए हैं। सभी रत्नों में मात्र धन्वन्तरि ही ऐसे नवरत्न हैं जो कई कालों में अस्तित्व में पाये जाते हैं अथवा वे प्रारंभिक धन्वन्तरि की उपाधि को ग्रहण करके चिकित्सा क्षेत्र में कार्य कर रहे थे। विक्रमकालीन धन्वन्तरि के अतिरिक्त जो अन्य धन्वन्तरि नाम के औषधीय विशेषज्ञ मिले हैं, उनके विवरण देना भी इस दृष्टि से उचित होगा कि मूल धन्वन्तरि के विषय में कुछ सूचनाएं दे सकें तथा सही निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकें।

सर्वप्रथम 'धन्वन्तरि' नाम का तादात्म्य वेदों में देखें तो हम पाते हैं कि प्रत्यक्षतः तो यह नाम वहाँ नहीं मिलता है किन्तु सुश्रुत संहिता में उल्लेखित 'काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि' का उल्लेख है जिसमें दिवोदास का नाम अन्य आयुर्वेद के आचार्यों भारद्वाज एवं अश्विनकुमारों के साथ ऋग्वेद में दिया गया है। इस प्रकार दिया गया है कि इनको जोड़कर धन्वन्तरि के ऋग्वैदिक संदर्भ को देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हरिवंश पुराण एवं विष्णु पुराण में इनके वंशानुक्रम का उल्लेख इस प्रकार है-

**विष्णु पुराण ( 4-8 )-** पुरूरूवा-आयु-क्षत्रवृद्ध-काश-काशिराज-दीर्घतरा-धन्वन्तरि - केतुमानङ्कदिवोदास प्रतर्दन।

**हरिवंश पुराण ( 29 ) काश-** दीर्घतपा-धन्व-धन्वन्तरि-केतुमान-भीमरथ-दिवोदास-प्रतर्दन।

उपर्युक्त दोनों पौराणिक वंशानुक्रम से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि दिवोदास नामक आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि बाद हुआ जिन्होंने सम्मानस्वरूप इस नाम को उपाधि के रूप में अपने

साथ जोड़ लिया यथा 'काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि'। इसी परम्परा की कड़ी वैक्रम-धन्वन्तरि एवं उसके पश्चात् भी बनी रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

भगवान बुद्ध के चिकित्सक जीवक द्वारा संग्रहीत काश्यप-संहिता में भी धन्वन्तरि नाम का उल्लेख है। मिलिन्दपन्थो नामक ग्रन्थ में भी आयुर्वेद के पूर्वाचार्यों में धन्वन्तरि को गिनाते हुये मिलिन्द ने नागसेन से चर्चा की थी। जातक ग्रन्थों में भी आयुर्वेद के आचार्य धन्वन्तरि का उल्लेख है। अमोधर नामक जातक में वैतरणि तथा भोज नाम के आयुर्वेद ग्रन्थ में आचार्यों के साथ धन्वन्तरि का भी नाम आता है।

धन्वन्तरि के नाम का उल्लेख गरूड, स्कन्द तथा मार्कण्डेय पुराणों में भी प्राप्त होता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि धन्वन्तरि नाम के कई व्यक्ति जो कि मोटेतौर पर औषधीय क्षेत्र से सम्बन्धित थे एवं साथ ही दिवोदास उनके वंशज अथवा पौत्र थे जिन्होंने भी इस क्षेत्र में इस ज्ञान को अक्षुण्ण रखा।

धन्वन्तरि की उत्पत्ति अथवा प्रारंभिकता के विषय में भी कई कथाएँ प्रचलित हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना पुनः आवश्यक है कि जब तक यह स्पष्ट नहीं होता कि वैक्रम धन्वन्तरि के विषय में पूर्ण ठोस सूचनाएं नहीं प्राप्त होती तब तक हम धन्वन्तरि से सम्बन्धित छोटी-बड़ी हर सूचनाओं पर ध्यान आकर्षित करेंगे। धन्वन्तरि की माता का नाम वीरभद्रा था और वह जाति की वैश्य थी। धन्वन्तरि के जनम की एक कथा प्राप्त होती है।

यह कथा अम्बष्ठाचारचन्द्रिका में उद्धृत पुराण के वचनों के अनुसार एक मनोरंजक कथा है जो कि इस प्रकार है :-

'एक बार महर्षि गालव कुश आदि की खोज में वन में अत्यन्त परिश्रान्त हो गये। वे अत्यन्त तृषार्त (प्यासे) थे, किन्तु जल न मिलने से वह वन से बाहर निकले। उन्हें कटिप्रदेश पर जलकलश रखे एक युवती मिली। उसे देख प्रसन्न होकर मुनि पुंगव ने कहा कि, हे कन्या क्या तुम जल देकर मेरी प्राण रक्षा करोगी। उसने जल कलश उस ऋषि को दे दिया। ऋषि ने उसमें आधे से स्नान किया तथा आतृप्ति पान किया और कहा हे कन्ये! तुम पुत्रवती हो। तब कन्या ने कहा कि उसका विवाह नहीं हुआ

है। मुनि ने कहा कि तुम कौन हो और तुम्हारा नाम क्या है? उसने कहा- 'मैं वैश्य की कन्या हूँ और मेरा नाम वीरभद्रा है।' तब ऋषि ने विचार किया और उसे लेकर ऋषियों के पास जाकर सारा वृत्तान्त कहा। ऋषियों ने प्रसन्न होकर तथास्तु। इस वैश्य कन्या वीरभद्रा से धन्वन्तरि उत्पन्न होगा।' ऐसा कहकर उन ऋषियों ने कुश की एक पुतली बनाकर कन्या की गोद में रख दी और वेदमंत्रों द्वारा उसमें प्राण प्रतिष्ठा की। उसी समय उस कन्या की गोद में स्वर्ण राशि के समान गौर-सौम्य आकृति का बालक देखकर श्रेष्ठ मुनियों को अत्यन्त हर्ष हुआ और वेद मंत्रों से उत्पन्न हुआ। अतः वैद्य और माता के कुल में स्थित था अतः अम्बष्ठ नाम से विख्यात हुआ।'

स्कन्दपुराण में भी ऐसा ही एक उपाख्यान कहा गया है। वहाँ वीरभद्रा के पिता ने गालव ऋषि को वह कन्या प्रदान कर दी। परन्तु ऋषि ने पाणि ग्रहण स्वीकार न करके उस कन्या से धन्वन्तरि पुत्र होने का वर दिया है।

धन्वन्तरि ने अश्विनकुमार की तीन कन्याएँ (1) सिद्ध विद्या, (2) साध्य विद्या, (3) कष्टसाध्य विद्या को ब्याहा था और उनके सेन, दास, गुप्त, दत्त इत्यादि 14 पुत्र हुये। संभवतः यह उनके शिष्य रहे हों।

सबसे प्राचीन धन्वन्तरि की उत्पत्ति के विषय में ऐसा मानना है कि वे समुद्र मंथन के फलस्वरूप चौदह रत्नों के साथ जल से धन्वन्तरि भी उत्पन्न हुये थे। इस प्रकार के धन्वन्तरि को भगवान माना गया है तथा इस उत्पत्ति का उल्लेख महाभारत, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, अग्निपुराण तथा हरिवंशपुराण आदि में प्राप्त होता है। इन्हें अब्जदेव धन्वन्तरि भी कहा जाता है। संभवतः इन्हीं की दैवीय चिकित्सकीय शक्ति के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही कालांतर में चिकित्सा क्षेत्र के विशेषज्ञों ने उपाधिस्वरूप इसे धारण किया होगा। विक्रमकालीन नवरत्न धन्वन्तरि भी इसी परम्परा में रहे होंगे, ऐसा विश्वास करने में कोई परहेज नहीं करना चाहिये।

धन्वन्तरि के अविर्भाव के सम्बन्ध में यह भी कथन है कि ये गुरु शिष्य परम्परा से उद्भूत हुये थे। धन्वन्तरि ने दक्ष प्रजापति के शिष्य अश्विनकुमारों के अर्न्तवासी देवराज इन्द्र से जिनके आदि आचार्य ब्रम्हा थे परम्परागत आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। सुश्रुतसंहिता में यह इस प्रकार प्राप्त होता है-

'ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादशिवनावा ।

श्विनाम्याभिद्र इन्द्रादहं भया त्वहि प्रदेयमर्थम्यः प्रजाहित हेतोः ।।'

इसके अतिरिक्त इन्द्र के शिष्य भरद्वाज से इनके आयुर्वेद अध्ययन करने का हरिवंश में इस प्रकार वर्णन है -

काशिराजो महाराजः सर्वरोग प्रणाशनः ।

आयुर्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येदं भिषजांक्रियाम् ।

तमष्टद्या पुनर्व्यस्य शिष्टोभ्यः प्रत्यपादयत् ।।

इसका तात्पर्य यहाँ यही हो सकता है कि अंग विशेष में वैशिष्ट्य प्राप्त करने के लिये दिवोदास धन्वन्तरि ने भारद्वाज से शिक्षा प्राप्त की।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वप्रथम आयुर्वेद के अधिष्ठाता धन्वन्तरि हुये। इनसे मित्र काशी के राजा एक धन्वन्तरि हुये पुनः जिनके पौत्र या प्रपौत्र दिवोदास धन्वन्तरि हुये निश्चित रूप से विक्रम के समय हुये या तो कोई अन्य वैद्यक थे जिन्होंने धन्वन्तरि नाम का उपयोग किया अथवा पुराणोक्त धन्वन्तरि एवं दिवोदास उनके काल के ही रहे होंगे जिनमें से धन्वन्तरि उनके चिकित्सकीय नवरत्न रहे थे। अथवा यह भी संभव है कि विक्रम धन्वन्तरि से अब्जदेव धन्वन्तरि, धन्वन्तरि एवं धन्वन्तरि दिवोदास सभी भिन्न हों।

धन्वन्तरि की रचनाएँ :

'भारतीय औषधि के इतिहास' में डॉक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने धन्वन्तरि प्रणीत दस मुख्य ग्रन्थ बताये हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्व-विज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन और काशीराज ने चिकित्सा कौमुदी निर्मित की।

### लेखकों से निवेदन

महाराज विक्रमादित्य शोध पीठ का नवीन प्रकल्प 'विक्रम संवाद' पाक्षिक आलेख सेवा है। विभिन्न प्रकाशन-प्रसारण माध्यमों को निःशुल्क प्रेषित किया जाता है। इस आलेख सेवा का उद्देश्य प्रमाणिक एवं अज्ञात तथ्यों से पाठकों का परिचय कराना है। आपके पास ऐसी कोई सामग्री हो तो कृपया हमें भेजें।

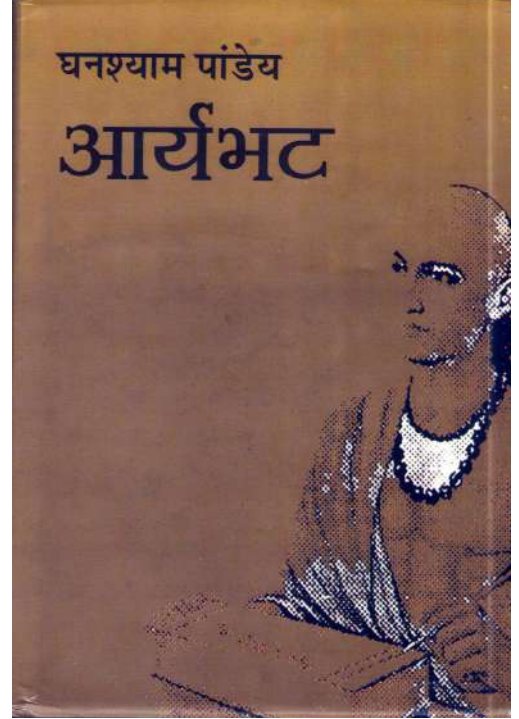
-संपादक

**पुस्तक चर्चा/डॉ. मोना परसाई**

## आर्यभट (एक ऐतिहासिक उपन्यास)

गणित विज्ञान का उल्लेख जब भी होगा आर्यभट के उल्लेख के बिना अधूरा रहेगा। 476ई. में जन्मे महान गणितज्ञ आर्यभट ने गणित के विकास में अमूल्य योगदान के रूप में याद किये जाने वाला ग्रंथ 'आर्यभटीय' की रचना की थी। विश्व में गणित की यह प्रथम ग्रंथ है जिसमें अंकगणित, बीज गणित, रेखा गणित तथा त्रिकोणमिति का समावेश था। ऐसे महान गणितज्ञ के बारे में सुपरिचित लेखक डॉ. घनश्याम पांडेय की महत्वपूर्ण कृति 'आर्यभट' उपन्यास की शैली में भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है। आमतौर पर ऐसे महान विद्वानों की जीवन पर ललित निबंध की तरह अनेक किताबें उपलब्ध हैं लेकिन आर्यभट पर डॉ. पांडेय की यह किताब रोचक ढंग से आर्यभट से पाठकों का परिचय कराती हैं। गणित विषय के जानकार और इसी विषय से पी-एचडी की उपाधि प्राप्त डॉ. पांडेय ने किताब के प्रस्तावना में विभिन्न विद्वानों की टिप्पणी के साथ अपनी बात प्रस्तुत कर विषय का रोचक विस्तार दिया है।

डॉ. पांडेय लिखते हैं कि आर्यभट पर लिखा गया उपन्यास शैली के इस किताब को बोझिल ना बन जाए, इस उद्देश्य से गणितीय सिद्धांतों को शामिल नहीं किया है। किताब में आर्यभट के जीवन के विभिन्न प्रसंगों को सहज-सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है जो गणित में रूचि ना रखने वाले पाठकों को भी समझ आ सके। पाठकों के लिए यह जानना रोचक है कि जिस नालंदा विश्वविद्यालय में आर्यभट विद्यार्थी थे, अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में इसी विश्वविद्यालय में कुलपति बनकर लौटे। तकरीबन 6सौ पृष्ठों की उपन्यास शैली वाली किताब में 25 चेप्टर हैं जो आर्यभट के जीवन, उनकी कार्यशैली, उनसे जुड़े संदर्भ के साथ अन्य विषयों को गंभीरता से लेकिन सहज रूप से प्रस्तुत किया गया है। चूंकि आर्यभट की ख्याति और पहचान एक सुविख्यात गणितज्ञ के रूप में रहा है इसलिए इस बात का भान बार बार होता है कि उनके बारे में पढ़ने के लिए अलग से मेहनत की जरूरत होगी और शायद समझ ना आए लेकिन डॉ. पांडेय की यह किताब बहुत सहजता के साथ आर्यभट को ना केवल समझाती है बल्कि रोचक भी बनाती है। भारतीय ज्ञानपीठ की यह किताब यह बात भी स्थापित करती है कि विषय कठिन हो लेकिन लिखने की कला उसे दिल तक पहुंचाती है और आर्यभट को पढ़ते हुए यह बात कही जा सकती है।



पुस्तक : आर्यभट

लेखक : डॉ. घनश्याम पांडेय

मूल्य : 650/-

संस्करण : द्वितीय

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ

18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदीरोड,  
नईदिल्ली-110003

‘ आर्यभटीय की प्रकाशित दो पुस्तकों के दो अध्याय 'दशगीतिका' और 'गणितपाद' के प्रथम श्लोकों में उनका नाम 'आर्यभट' लिखा गया है. वस्तुतः 'भट' का अर्थ होता है योद्धा, जबकि 'भट्ट' ब्राह्मणों का एक नाम है जैसे कुमारिल भट्ट, बाणभट्ट, बालाजी विश्वनाथ भट्ट (प्रथम पेशवा) आदि. परंतु जिन लेखकों ने उनका नाम 'आर्यभट्ट' माना किया है, उन्होंने उनकी जाति ब्राह्मण लिखी है जबकि वे कुट्टी ने उन्हें क्षत्रिय कन्या का पुत्र माना है. ’

इसी पुस्तक से

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ संस्थान स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रत्येक गुरुवार प्रसारित. सम्पादक श्रीराम तिवारी. समन्वयक मनोज कुमार.